इत्र बनाम चमड़ा



उत्तर प्रदेश में जाति और गंध की राजनीति

शिवानी कपूर

I

मार्च, 2016 में अपनी सरकार के चार वर्ष पूरे होने के उपलक्ष में समाजवादी पार्टी ने उत्तर प्रदेश में 'समाजवादी सुगंध' नाम के चार परफ़्यूमों का लोकार्पण किया।[1] काठ के सुसज्जित डिब्बे में इत्र-नुमा बोतलों में बंद ये चार सुगंधें समाजवाद का प्रतीक बताई गयीं।[2] ये उत्तर प्रदेश के चार शहरों और उनके प्रसिद्ध प्रतीकों से प्रेरित हैं— आगरा का ताजमहल, कन्नौज का इत्र व्यापार, बनारस के घाट और लखनऊ का रूमी दरवाज़ा।[3] इन ख़ुशबुओं का ब्यौरा देते हुए मुम्बई की फ्रगोमैट्रिक्स ग्लोबल नामक कम्पनी के प्रतिनिधि पुनीत जैन ने बताया कि क़रीब दो साल की रिसर्च के बाद इन सुगंधों को चुनने का फ़ैसला लिया गया।[4] आगरा की सुगंध गुलाबों से तैयार की गयी है, तो कन्नौज की ख़ुशबू में केवड़ा पाया जाएगा। वहीं बनारस के परफ़्यूम में काशी के मंदिर के फूलों (गेंदा) और अगरबत्ती की ख़ुशबू है, जो गंगा के पानी की याद दिलाएगी। लखनऊ

---

[1] स्वाति माथुर (2016), 'अखिलेश यादव लॉन्च्ड समाजवादी गंध टू यूनाइट आल', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 16 मार्च.
[2] वही.
[3] वही.
[4] वही.



सुगंधों का यह डब्बा सिर्फ़ मुख्यमंत्री दफ़्तर द्वारा उपहार में देने के लिए उपलब्ध है।... इस पहल को कन्नौज के इत्र व्यापार से भी जोड़ कर देखा जा रहा है, जो अब कई दशकों से ठण्डा पड़ा हुआ है। इत्र आधुनिक परफ़्यूम से लड़ाई हार रहा है, और अपनी ग़ैर-आधुनिक पहचान बचाने की कोशिश में है। समाजवादी सुगंध अगर बाज़ारों में मिलती तो शायद इस उद्योग को कुछ फ़ायदा पहुँचता।

के रूमी दरवाज़े के चमेली और गुलाब के फूल, चंदन की ख़ुशबू के साथ अवध की नवाबी शान के प्रतीक हैं।[5] इस अवसर पर बोलते हुए मुख्यमंत्री अखिलेश यादव ने गंध के विषय में दरअसल एक दार्शनिक सी बात कह डाली। अखिलेश यादव के अनुसार 'यह समाजवादी सुगंध लोगों को एक साथ जोड़ेगी और समाजवाद का मैसेज बड़े लेबिल पर फैलाएगी। संगीत हमेशा से समाजवाद का हिस्सा रहा है, और अब सुगंध भी जुड़ गयी है।' साथ ही उन्होंने यह भी कहा की ये सुगंधें विकास, भाईचारा और सामाजिक एकता का प्रतीक हैं।[6]

मीडिया और राजनीतिक गलियारों में इस पहल को 2017 के आगामी राज्य चुनावों से जोड़ कर देखा जा रहा है। समाजवादी पार्टी कई चुनावी मुद्दों और वायदों को पूरा करने में लगी है। इनमें से सबसे बड़ा मुद्दा विकास का है। उत्तर प्रदेश के कई शहर इस वक़्त अधिरचनात्मक सुविधाओं के अभाव से जूझ रहे हैं। प्रधानमंत्री द्वारा लोकार्पित 'स्मार्ट सिटीज़ प्रोग्राम' के पहले बीस शहरों में उत्तर प्रदेश का एक भी शहर नहीं था,[7] पर इस लेख को लिखने के दौरान ही स्मार्ट सिटी की श्रेणी में 13 नये शहर और जोड़े गये जिनमें लखनऊ को पहला स्थान मिला। द *इण्डियन एक्सप्रेस* के अनुसार यह एक राजनीतिक फ़ैसला भी हो सकता है। आख़िरकार यह गृह मंत्री राजनाथ सिंह का निर्वाचन क्षेत्र है। साथ ही भाजपा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष और गुजरात के प्रभारी दिनेश शर्मा पिछले नौ साल से लखनऊ के महापौर भी रहे हैं। ऐसे में लखनऊ का स्मार्ट सिटी की श्रेणी में होना कुछ ज़रूरी सा हो गया था।[8] बहरहाल, स्मार्ट सिटीज़ की श्रेणी में उत्तर प्रदेश के अन्य शहरों की ग़ैरमौजूदगी जनता में शहरी विकास को लेकर उत्साह को देखते हुए समाजवादी पार्टी के लिए चिंता का विषय है। साथ ही 2013 में मुज़फ़्फ़रनगर से शुरू हुआ साम्प्रदायिक हिंसा का दौर आसानी से ख़त्म होता नज़र नहीं आ रहा है। अक्तूबर, 2015 में लोकसभा में पेश की गयी एक रिपोर्ट के अनुसार 2010–2014 के बीच हुए साम्प्रदायिक हिंसा के मामलों में से हर पाँचवाँ मामला उत्तर प्रदेश से था।[9] हिंसा के इस दौर में अब ग्रामीण क्षेत्रों में मांस और पशु व्यापारियों (ख़ासकर गाय) पर भी हमले जुड़ गये हैं। प्रदेश में

[5] 'समाजवादी सुगंध इज़ द स्मेल ऑफ़ सक्सेस इन उत्तर प्रदेश', *डेक्कन क्रॉनिकल,* 17 मार्च, 2016.

[6] वही

[7] वीर अर्जुन सिंह (2016), 'फ़ोर कैपिटल्स, 12 स्टेट्स : इण्डियाज़ टॉप 20 स्मार्ट सिटीज इन नम्बर्स', *एनडीटीवी,* 28 जनवरी.

[8] लालमणि वर्मा (2016), 'हाउ लखनऊ वाज़ सिलेक्टेड एज़ अ स्मार्ट सिटी', *द इण्डियन एक्सप्रेस,* 24 मई.

[9] अभीत सिंह सेठी (2015), 'उत्तर प्रदेश लीड्स इण्डिया इन कम्युनल वायलेंस', *सिफ़ी न्यूज़,* 7 अक्तूबर, http://www.sify.com /news/uttar-pradesh-leads-india-in-communal-violence-news-columns-pkhkjSefaacac. html.

मांस और चमड़े का व्यापार काफ़ी बड़े स्तर पर होता है। इन दोनों के लिए कच्चा माल कुछ अव्यवस्थित तरीक़े से गाँव के स्तर पर जमा किया जाता है। ऐसे में इस हिंसा का सीधा असर प्रदेश की आय और प्रौद्योगिक वातावरण पर पड़ सकता है। ग़ौरतलब है कि इस हिंसा का ज़्यादा प्रभाव कानपुर और उन्नाव के चमड़े के कारख़ानों (टैनरीज़) पर पड़ रहा है। इनका पशुओं से सीधा संबंध है। गंगा के प्रदूषण को लेकर भी इन इलाक़ों का माहौल बिगड़ा हुआ है, विशेषकर उन्नाव में जहाँ से भारतीय जनता पार्टी के कट्टर हिंदुत्ववादी नेता साक्षी महाराज सांसद चुने गये हैं। साक्षी महाराज गंगा की शुद्धता और उसकी सफ़ाई पर बयानबाज़ी करते रहते हैं। 2014-15 के बीच टैनरी मालिकों के साथ किये गये साक्षात्कारों से उनकी इस मान्यता के बारे में पता चला कि समाजवादी पार्टी की सरकार उनके हितों के पक्ष में आवाज़ उठाने में विफल रही है।

ज़ाहिर है कि ऐसे माहौल में समाजवादी पार्टी की यह सुगंधित पहल कुछ ज़्यादा उत्साह पैदा नहीं कर पाई। आलोचना का एक छोटा सा स्वर भी सुनने में आया कि ये सुगंधें आम जनता के लिए उपलब्ध नहीं है।[10] ग़ौरतलब है कि सुगंधों का यह डब्बा सिर्फ़ मुख्यमंत्री दफ़्तर द्वारा उपहार में देने के लिए उपलब्ध है।[11] अंततः समाजवाद की सुगंध शायद ज़्यादा दूर तक नहीं फैल पाएगी। इस पहल को कन्नौज के इत्र व्यापार से भी जोड़ कर देखा जा रहा है, जो अब कई दशकों से ठण्डा पड़ा हुआ है। इत्र आधुनिक परफ़्यूम से लड़ाई हार रहा है, और अपनी ग़ैर-आधुनिक पहचान बचाने की कोशिश में है। समाजवादी सुगंध अगर बाज़ारों में मिलती तो शायद इस उद्योग को कुछ फ़ायदा पहुँचता। वैसे अखिलेश यादव ने कन्नौज में 'अरोमा पार्क' बनाने की घोषणा भी की है।

अगर हम समाजवादी सुगंध के इस प्रकरण को कुछ देर के लिए भुला कर केवल सुगंध पर ध्यान दें तो यहाँ कुछ दिलचस्प ख़ुशबुओं से दो-चार हुआ जा सकता है। राजनीतिक संगठन हाल ही में अपने म्यूज़िक वीडियो और फ़िल्में जनता के सामने पेश करने लगे हैं। समाजवादी पार्टी का ही चुनावी विडियो 'उम्मीद की साइकिल' 2012 में ख़ासा प्रचलित हुआ था। लेकिन भारत में सुगंध के साथ यह पहला प्रयोग है।[12] समाजवादी पार्टी की यह सुगंध अपने में एक सांकेतिक राजनीति है। गंध की यह राजनीति हमारे समाज के एक नये पहलू पर प्रकाश डालती है। समाजवादी पार्टी की यह राजनीति विचारधारा को एक ऐंद्रिक परिकल्पना से जोड़ने की कोशिश है। राजनीति और गंध का यह संगम इस बात की तरफ़ इशारा करता है कि कहीं न कहीं गंध की राजनीति में कुछ अनोखा है। अगर समाजवाद की सुगंध हो सकती है, और अगर भाईचारा गंध के ज़रिये फ़ैलाया जा सकता है, तो हम यह भी कह सकते हैं कि गंध महज़ भौतिक और रासायनिक परिघटना नहीं है बल्कि उसका एक सामाजिक और राजनीतिक पहलू भी है जो किसी भी ख़ुशबू या बदबू को एक संवेदन, घटना या अनुभव तक सीमित न रख कर सत्ता और पदानुक्रम का सवाल भी बना देता है।

यह भी हो सकता है कि हम एक सीधे-सादे राजनीतिक आडम्बर में कुछ ज़्यादा ही मायने खोज रहे हों। लेकिन गंध का एक ख़ास पहलू है जो उसे कुछ उच्छेदक बनाता है। गंध का विस्तार नियंत्रित करना कठिन है। वह नज़रों से छुप कर छोटे से छोटे कोने और दरार से जगह बना कर नाक तक पहुँच ही जाती है। हमें साँस के साथ गंध के इन कणों को सूँघना ही पड़ता है। गंध दरअसल सतही परिकल्पना की गहराइयों को खोल देती है। जो छुपा है उसे उजागर कर देती है।[13] द्वितीय विश्व-युद्ध में फ़ासीवादी जर्मनी के यातना शिविरों की पहली ख़बर वहाँ निकल रही जलते शवों की बदबू ने ही दी थी।[14]

---

[10] 'समाजवादी सुगंध इज़ द स्मेल ऑफ़ सक्सेस इन उत्तर प्रदेश', *डक्कन क्रॉनिकल,* 17 मार्च, 2016.

[11] वही.

[12] वही.

[13] कॉन्स्टेंस क्लेसेन, डेविड होव्ज़ व अंथोनी सीनोत (1994) : 4.

समाजवादी सुगंध भले ही केवल एक राजनीतिक संकेत मात्र हो, पर अब जब यह सुगंध फैल ही गयी है तो इसे समझाना भी ज़रूरी है। साथ ही में इस सुगंध से ढँकी कई और गंधों को उगाजर करने की भी ज़रूरत है। इस लेख के ज़रिये गंध की इसी राजनीति को समझने की कोशिश की गयी है।

लेख के आगे के भागों में गंध की इस परिकल्पना का कुछ और गहराई से उल्लेख किया गया है। फिर पश्चिमी संदर्भ में गंध, समाज और आधुनिकता के संबंधों को समझा गया है। इसी भाग में युरोपीय और भारतीय ऐंद्रिक संरचना के परस्पर प्रभाव पर भी प्रकाश डाला गया है। लेख के आख़िरी भाग में गंध की इस समझ को जाति और चमड़ा व्यापार के साथ जोड़ कर गंध की राजनीति पेश की गयी है।

II

गंध, सत्ता, पदानुक्रम और राजनीति

विकास, अर्थव्यवस्था और गहरे राजनीतिक मुद्दों से लैस उत्तर प्रदेश के इस माहौल में सुगंध की बात करना कुछ अजीब सा लगता है। परफ़्यूम और इत्र तो वैसे भी पल भर में तिरोहित हो जाते हैं, अपने अस्तित्व की छाप छोड़े बिना। गंध के राजनीतिक और सामाजिक महत्त्व को गम्भीरता से परखने में उसकी यह क्षणभंगुरता ही सबसे बड़ी मुश्किल है। साथ ही गंध को अक्सर दो भिन्न छोरों पर रख कर समझा जाता है— या तो परफ़्यूम के ज़रिये गंध को भोग और विलास का मानक समझा गया है, या फिर दुर्गंध की परिकल्पना करते हुए गंध को एक अनावश्यक और आपत्तिजनक परिघटना समझा जाता है। इन दोनों के बीच दरअसल गंध का एक बेहद जटिल और परत-दर-परत अस्तित्व है जो हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन के चारों ओर फैला हुआ है। हमारे शहर, घर, शरीर, जानवर, वातावरण और यहाँ तक कि अचेत वस्तुओं की भी गंध होती है जो हमारे आसपास एक ऐसा तानाबाना सा बुन जाती है जिसके ज़रिये हम अपनी दुनिया संयोजित करते हैं। फलत: गंध का हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन से गहरा रिश्ता है और अगर शब्दों में कहें तो गंध की अपनी एक सामाजिक और राजनीतिक परिकल्पना है जो हमारे अस्तित्व पर गहरा प्रभाव डालती है। गंध का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियों का मानना है कि गंध केवल एक जैविक और मानसिक तथ्य नहीं है।[15] गंध, उसे परखने का आधार, उसका अनुभव— सभी का संबंध राजनीति से है। गंध एक राजनीतिक अवधारणा है। इसे बेहतर समझने के लिए कुछ मिसालों पर ग़ौर किया जा सकता है।

कुछ गंधें वस्तु या जीव के भीतर से फूटती हैं। हर मानव शरीर की अपनी पृथक गंध होती है जिससे उसकी पहचान की जाती है। इतिहास में देखें तो सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित करने में इस शारीरिक गंध का खूब इस्तेमाल हुआ है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था को ही टटोलें तो हम पाएँगे कि जाति व्यवस्था एक बड़े पैमाने पर गंध की राजनीति पर टिकी हुई है। इस सिलसिले में ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा *झूठन* के एक प्रसंग पर नज़र डाली जा सकती है। अपने स्कूल के दिनों की बात बताते हुए वाल्मीकि कहते हैं :

> साफ़-सुथरे कपड़े पहनकर कक्षा में जाओ तो साथ के लड़के कहते, 'अबे चूहड़े का, नये कपड़े पहनकर आया है।' मैले-पुराने कपड़े पहन कर स्कूल जाओ तो कहते, 'अबे चूहड़े का, दूर हट, बदबू आ रही है।'[16]

दरअसल, वाल्मीकि के शरीर से आ रही यह बदबू गंदे कपड़ों या गंदे काम की नहीं है, बल्कि

---

[14] कॉन्स्टेंस क्लेसेन, डेविड होव्ज़ वगैरह, (वही) : 173-174.

[15] कॉन्स्टेंस क्लेसेन, डेविड होव्ज़ वगैरह, (वही) : 3.

[16] ओमप्रकाश वाल्मीकि (2009) (1997) : 13.

तथाकथित निचली जातियों को अपने आप में ही गंदा और बदबूदार समझने से जुड़ी है। गोपाल गुरु के मुताबिक़ तथाकथित ऊँची जातियों ने 'पंचामाभुते' के सिद्धांत की अवहेलना करते हुए प्राकृतिक तौर पर समान मनुष्यों में एक सामाजिक भेद पैदा कर दिया है जिसके चलते समाज के कुछ समुदाय स्थायी तौर पर *वॉकिंग क़रिऑन* यानी एक जीवित, सड़ती हुई लाश के रूप में ढल गये हैं।[17] तथाकथित निचली जातियों के प्रति घृणा इसी सड़ती हुई लाश की बू से उत्पन्न होती है।

इस अवधारणा के चलते यह भी माना जाता है कि इन तथाकथित निचली जातियों, जैसे भंगी/वाल्मीकि और चमारों को गंदगी में रहने की आदत है और उन्हें इससे फ़र्क़ नहीं पड़ता।[18] इसका सबसे सशक्त उदाहरण हमें भारत के चमड़ा व्यवसाय से मिलता है। उत्तर प्रदेश के चमड़ा व्यवसाय पर शोध[19] करते हुए जब भी मैंने कारख़ाना या टेनरी मालिकों से पूछा कि उनके लगभग सारे कर्मचारी[20] जाटव (चमार) या मुसलमान ही क्यों हैं, तो सबने एक रटा-रटाया सा उत्तर दिया— 'इन समुदायों को यह काम करने की आदत होती है। वे चमड़े की बदबू आसानी से सहन कर जाते हैं। ऐसा करना हम लोगों के लिए मुश्किल होता है।'

सवाल यहाँ गंध का या उसकी भौतिक संरचना का नहीं है। यहाँ सवाल सौंदर्यपरक विश्लेषण का भी नहीं है। यह कथन दरअसल मनुष्य और उसकी ऐंद्रिक संरचना पर एक जातिसूचक टिप्पणी है। गुरु के *वाकिंग क़रिऑन* अपनी सड़ती हुई दुर्गंध के इतने आदी हो चुके हैं कि चमड़े की सड़ती हुई दुर्गंध का उन पर कोई असर नहीं पड़ता। जाति की इसी गंध को और गहराई से समझने और इसकी तुलना में समाजवादी सुगंध के सम्पूर्ण भाव को परखने के लिए इस लेख के आख़िरी भाग में चमड़े की इसी जातिगत दुर्गंध पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।

जातिगत व्यवस्था के बाहर भी गंध की राजनीति का सामाजिक नियंत्रण के लिए ख़ासा इस्तेमाल किया गया है। अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों का मानना था कि भारत के मूलनिवासियों में से एक अजीब और घिनौनी शारीरिक दुर्गंध आती है जो उनके निचले सामाजिक दर्जे की प्रतीक है।[21] इसी तरह का वर्णन उत्तरी अमेरिका में नस्ल संबंधी मामलों में भी दिया जाता है। काली नस्ल के लोगों की ग़ुलामी का एक आधार उनकी शारीरिक बदबू को बताया जाता रहा है।[22]

देखा जाए तो किसी भी गंध को सुगंध या दुर्गंध का विशेषण देने का हक़ सत्ताधारी के पास ही रहा है। जहाँ एक ओर गंध पर एक सौंदर्यबोधी धारणा थोपी गयी, वहीं इसी गंध का इस्तेमाल करते हुए समुदायों का वर्गीकरण किया गया। प्राकृतिक इतिहासकार लोरेंज़ ओकेन ने तो नस्ल और इंद्रियों को एक पदानुक्रम

---

[17] गोपाल गुरु व सुंदर सरुक्कई (2012) : 207.

[18] देखें, विलियम क्रुक (2012 / 1906) : 122 और जी.डब्ल्यू. ब्रिग्स (2004 / 1920) : 20. साथ ही में यह विचार उत्तर प्रदेश में चमड़ा व्यापार में ऊँची जाति के कारख़ाना मालिकों से साथ लिए कई साक्षात्कारों में भी सामने आया.

[19] इस शोध कार्य के अंतर्गत मैंने 2013-2016 के बीच उत्तर प्रदेश के कानपुर, उन्नाव, आगरा और नोएडा शहरों में कई चमड़ा टेनरीज़, जूते की फ़ैक्ट्री, लेदर गारमेंट फ़ैक्ट्री, खाल मण्डी और लेदर डिज़ाइनर के साथ रिसर्च की है. इस दौरान कई विस्तृत साक्षात्कारों के ज़रिये मज़दूरों, मैनेजर, सुपरवाइज़र और मालिकों से चमड़ा व्यवसाय और उसमें जाति और समुदाय की राजनीति के प्रभाव पर विमर्श किया गया. साथ ही में इस शोध में अभिलेखागार दस्तावेज़ों का भी इस्तेमाल हुआ है.

[20] चमड़ा व्यवसाय में लिए कई साक्षात्कारों के दौरान जब मैंने फ़ैक्ट्री और टेनरीज़ में काम करने वाले लोगों से पूछा कि वे अपने को क्या बुलाते हैं, तो एक बड़े हिस्से ने अपने को 'श्रमिक' बताया. इनका मानना था कि 'मज़दूर' एक सम्माननीय शब्द है, पर उसका तात्पर्य हाथ से काम करने वालों से है. फ़ैक्ट्री और टेनरीज़ में काम मशीनों से होता है. इसलिए वे 'श्रमिक' कहलाना पसंद करते हैं. इसी के चलते इस लेख में 'श्रमिक' का ही प्रयोग किया गया है. हालाँकि ऐसा नहीं है. कि चमड़ा व्यापार में सारा काम मशीनों से ही होता है. ख़ासकर टेनरी में तो काफ़ी काम, जैसे छिलाई (मांस और चर्बी निकालना), खालों को रसायनों में डालना-निकालना हाथ से किया जाता है. इसी 'गंदे' काम को करने की वजह से इन वर्कर्स को भी 'गंदा' समझा जाता है. 'श्रामिक' की पहचान कुछ हद तक इस गंदगी से बचाती है. और 'चर्मकार' या 'जाटव' या 'चमार' होने की पहचान से भी कुछ राहत देती है.

[21] देखिए ई.एम. कलिंघम (2001).

[22] देखिए मार्क एम. स्मिथ (2006).



जोहड़ (गोसाईंपुरा, चूरू)

अंग्रेज़ी शासकों ने जाति-व्यवस्था को एक संगठित रूप प्रदान किया। इसके चलते जातिसंगत कार्यों को बढ़ावा मिला और चमड़ा व्यापार इसका ख़ास उदाहरण है। रामनारायण रावत लिखते हैं कि पहले विश्व-युद्ध के दौरान जब अंग्रेज़ी शासन को चमड़े की ख़ास ज़रूरत पड़ी तो उन्होंने भारत में चमड़े और जूतों के बड़े कारख़ाने लगाने का फ़ैसला किया। कारख़ाने लगाने के लिए वे स्थान चुने गये जहाँ चमारों और पशुओं की संख्या अधिक थी, जैसे कानपुर।

में ही बाँध डाला। ऊपर से नीचे चलते हुए उनका यह अनुक्रम कुछ इस प्रकार था— यूरोपियन 'आई मैन', एशियाई 'ईअर मैन', नेटिव अमेरिकन 'नोज़-मैन', ऑस्ट्रेलियाई 'टंग-मैन' और अफ़्रीकन 'स्किन-मैन'।[23] यह अनुक्रम न केवल अलग-अलग नस्लों को एक पदानुक्रमीय संबंध में ढालता है, बल्कि कुछ इंद्रियों को बाक़ी से ऊँचा और बेहतर दर्जा भी दे देता है। दूर तक और दूर से दुनिया को देखने वाली दृष्टि इस अनुक्रम में सबसे ऊपर है। शरीर के सबसे क़रीब और भोग-विलास का ज़रिया समझी जाने वाली छूने की क्षमता को सबसे निचला दर्जा मिला। इसका सीधा अर्थ इस मान्यता में निकला कि युरोपियन नस्लें एशिया और अफ़्रीका की पिछड़ी हुई नस्लों से न सिर्फ़ विकास और सभ्यता में आगे हैं, बल्कि वे ज़्यादा मानवीय भी हैं। माना गया कि युरोपीय समाज जानवरों की छूने और सूँघने की क्षमता पीछे छोड़ कर एक दृष्टि प्रधान समाज की रचना अपना सका है। इस तथ्य पर अगले भाग में विस्तार से चर्चा की जाएगी, पर अभी के लिए इतना ही कहना काफ़ी होगा कि ऐंद्रिक व्यवस्था को प्रकृति और जीव विज्ञान से परे सत्ता और पदानुक्रम से जोड़कर समझने का इससे बेहतर उदाहरण नहीं हो सकता।

गंध की सामाजिक परिकल्पना समझने के लिए हमें उन गंधों को भी समझना होगा जो वस्तु और जीव के बाहर होती हैं पर जो उनकी गंध को प्रभावित करती हैं। जैसे कि मानव शरीर पर इत्र या परफ़्यूम का इस्तेमाल या फिर सफ़ाई में प्रयोग किये जाने वाले साबुन, फिनॉयल इत्यादि जिससे गंदे

[23] डेविड होव्ज़ (2003) : 4.

या बदबूदार वातावरण या शरीर या वस्तु को साफ़ किया जा सकता है। शायद सबसे दिलचस्प है तीसरे तरह की गंध। वह है गंधहीन होने की स्थिति। मसलन, शारीरिक गंध ख़त्म करने के लिए लगाए गये डियोडरेंट, खाना पकते वक़्त तेज़ गंध को पंखे द्वारा निकाल कर फिर से गंधहीन वातावरण की स्थापना या किसी गंदे स्थान को साफ़ गंधहीन पानी से धोने का प्रयत्न। गंध और उसके सामाजिक प्रभाव पर शोध करने वाले मानवशास्त्रियों का मानना है कि मानव सभ्यता की गंधहीन स्थिति युरोपियन आधुनिकता की देन है।[24] इस आधुनिकता के साथ एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण हुआ जहाँ गंदगी, भीड़ और अत्यधिक ऐंद्रिक उतेजना को अनैतिक और भ्रष्ट समझा जाता है। इस सभ्यता की निगाह में तेज़ गंध भी आपत्तिजनक हो गयी थी। जहाँ एक समय युरोप में सुगंधित पदार्थों, जैसे कस्तूरी, लैवेंडर, कपूर और सिरके को विलास या उनके औषधीय तत्त्वों के लिए इस्तेमाल किया जाता था, वहाँ अट्ठारहवीं सदी के मध्य तक इन तेज़ गंधों को आपत्तिजनक समझा जाने लगा। यहीं से किसी भी तेज़ या उत्तेजक गंध, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, को नफ़रत और शक की निगाह से परखने की शुरुआत हुई।[25] साथ ही भीनी सुगंध या गंधहीनता को भौतिक और नैतिक स्वच्छता से जोड़ कर भी देखा जाने लगा।

कुछ का मानना है कि कोई भी वातावरण कभी भी पूरी तरह से गंधहीन नहीं होता। गंधहीनता की भी एक गंध होती है और इसीलिए गंध, स्वच्छता और सुव्यवस्था का संबंध बैठाना मुश्किल है।[26] लेख के अगले भाग में हम इन विषयों को ऐतिहासिक और दार्शनिक भूमिका में ढाल कर बेहतर समझने का प्रयास करेंगे। इस भाग में हमने एक अप्रत्यक्ष और अस्पष्ट सी ऐंद्रिक व्यवस्था को एक बुनियादी सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा देने का प्रयास किया है। गंध के इस स्वरूप का, लेख के आख़िरी भाग में उत्तर प्रदेश और उसके शहरों की गंध–संरचना, ख़ासकर कानपुर के चमड़ा व्यापार के संदर्भ में विश्लेषण किया जाएगा।

III
भारत और युरोप में गंध की संरचना

मानवीय ऐंद्रिक परियोजना में गंध का विशेष स्थान है, लेकिन उसे पूर्णत: समझा नहीं जा सका है। पिछले कुछ दशकों में सेंसरी स्टडीज़ के उद्‌भव से ऐंद्रिक संरचना और उसके अनुभव को जैविक और मानसिक विज्ञान के दायरे से बाहर समझा जाने लगा। पश्चिमी यूरोप, कनाडा और अमेरिका में हो रहे शोध और विश्लेषण अक्सर पूर्वी और पश्चिमी ऐंद्रिक अनुभव में अंतर बना कर चलते हैं।[27] मूलत: समझा जाता है कि कई पश्चिमी संस्कृतियाँ ऐंद्रिक परियोजना में दृष्टि को प्रथम स्थान देती हैं, जबकि पूर्व की कई संस्कृतियाँ अन्य इंद्रियों, जैसे नाक और जीभ को सर्वोपरि मानती हैं।[28] इस द्विभाजन का काफ़ी विरोध भी हुआ है और ओकेन द्वारा किया जाने वाला पदानुक्रम सामने आने के बाद इस 'सिविलाइज़ेशनल डिफ़रेंस' के तर्क की कड़ी आलोचना हुई है। इन आलोचक विचारधाराओं का मानना है कि मानवीय बोध सभी इंद्रियों के मेल से बनता है, न कि किसी एक इंद्री के प्रभाव से। इंटरसेंसॅरलिटी की यह अवधारणा अब काफ़ी प्रचलित है।[29]

भारतीय उपमहाद्वीप में कई प्रकार की ऐंद्रिक संरचनाएँ पाई गयी हैं। ये सभी इंटरसेंसॅरलिटी पर

---

[24] देखें, कॉन्स्टेंस क्लेसेन, डेविड होव्ज़ वग़ैरह, डेविड होव्ज़ व एह्लां कोरबह (1986).

[25] डेविड हॉव्ज़ व एह्लां कोरबह (1986) : 230.

[26] जिम द्रोब्निक (2005) : 265–280, 266–267.

[27] इसका एक बड़ा कारण है कि इन क्षेत्रों में काफ़ी समय तक सेंसरी स्टडीज़ मानवशास्त्र का हिस्सा रहा है.

[28] देखिए कॉन्स्टेंस क्लैसें, डेविड होव्ज़ वगैरह : 3–4 व कॉन्स्टेंस क्लैसें (1993).

[29] डेविड होव्ज़ (2005) : 9.

आधारित हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सुगंध का बड़ा स्थान है। हाल ही में प्रकाशित हुई जेम्स मैकह्यू की किताब *संदलवुड ऐंड करिअॅन* ने भारतीय उपमहाद्वीप में गंध के सवाल को धार्मिक प्रथाओं के ज़रिये समझने की कोशिश की है। हिंदू, बौद्ध और जैन धार्मिक परम्पराओं में सुगंध का कई तरीक़ों से इस्तेमाल होता रहा है। मिसाल के तौर पर हिंदू पूजा में रखे गये फूलों की ख़ुशबू पवित्र मानी जाती है। अगर पूजा की विधि से पहले कोई इन्हें सूँघ ले तो इन पुष्पों को दूषित समझ कर बदल देना अनिवार्य है।[30] पूजा विधि में अगरबत्ती, लोबान और धूप का प्रयोग भी आम है और एक सुगंधित वातावरण को पवित्र वातावरण माना गया है।[31] यह अवधारणा आधुनिक युरोपीय इंद्रिय संरचना के नज़दीक है। गंध और विलास के संबंध में भी ऐसी ही कुछ समानता सामने आती है।

लेकिन, जहाँ हिंदू पूजा विधि में सुगंध की भूमिका रही है, वहीं भोग विलास से दूर बौद्ध धर्म का सुगंध से अलग रिश्ता रहा है। बौद्ध धर्म में भिक्षुओं के लिए सुगंध का इस्तेमाल वर्जित था। कहा जाता है कि बुद्ध से तो सुगंध के विषय पर बात भी नहीं की जा सकती थी।[32] कहने का तात्पर्य यह है कि सुगंध का हमारी आम सामाजिक ज़िंदगी से गहरा रिश्ता है। धार्मिक आयाम के बाहर भी सुगंध और दुर्गंध का सामाजिक जीवन पर गहरा असर था। जेम्स मैकह्यू लिखते हैं, 'एक अच्छी सुगंध (परफ़्यूम) एक सुचालित राज्य की तरह होनी चाहिए, जिसमें सही संतुलन में मित्र (सौम्य/मध्यम पदार्थ), तटस्थ व्यक्ति और दुश्मन (तीख़े पदार्थ) होने चाहिए।'[33] गंध की इस भाषा द्वारा अच्छे और बुरे में नैतिक, सौंदर्यपरक और पवित्र-अपवित्र रूपी अंतर बनाए जाते हैं। दुराचारी लोग, बुरे कर्म, मृत्यु, नरक, ग़रीबी और बीमारी सभी से दुर्गंध आती है।[34] दक्षिण एशिया में सुगंध का व्यापार भी बड़े स्तर पर फैला हुआ था।[35] ऐसे में समाजवादी पार्टी द्वारा सुगंध का इस्तेमाल एक ख़ास सांकेतिक भाव है।

भारतीय ऐंद्रिक संरचना पर सबसे बड़ा प्रभाव अंग्रेज़ी शासन का पड़ा। उन्नीसवीं सदी के मध्य से अंग्रेज़ी शासन का भारतीय सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में ख़ासा दख़ल रहा है। इसी वजह से भारतीय और युरोपीय ऐंद्रिक परिकल्पनाओं ने एक-दूसरे को काफ़ी क़रीब से समझा और प्रभावित किया है। खान-पान, रहने के तरीक़ों, उठने-बैठने के तरीक़ों, पहनावे, बोल-चाल— इस सभी दायरों में ऐंद्रिक भेद था। इस संबंध का संचालन बड़े पैमाने पर जातिगत व्यवस्था के नियमों के तहत हुआ। इस संचालन का उल्लेख करने से पहले युरोपीय ऐंद्रिक व्यवस्था का एक संक्षिप्त ब्योरा समझना ज़रूरी है। जैसा कि हम जानते हैं कि युरोपीय आधुनिकता का मानवीय ऐंद्रिक बोध पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। यह आधुनिकता पश्चिम युरोपीय नवजागरणकाल की उपज है जिसका आधार बुद्धि, विवेक और तर्कपरकता रही है। अत: नवजागरण की ऐंद्रिक संरचना भी इन्हीं सिद्धांतों पर आधारित है। ऐसे में दूरगामी गुण वाली इंद्रिय दृष्टि को मानवीय संवेदी बोध का आधार और बुद्धि/विवेक/तर्क का प्रतीक माना गया।[36] ऐसा करने के पीछे एक लम्बी दार्शनिक और राजनीतिक सोच थी जो प्लेटो और अरस्तू के विचारों पर आधारित थी।[37] जॉन लॉक द्वारा प्रदत्त सेंसेशनलिज़म की विचारधारा ने भी दृष्टि को सर्वोपरि माना। इसका भी इस सोच पर प्रभाव पड़ा।[38] लेकिन मानवीय ऐंद्रिक संरचना

---

[30] एस्त्रिड जौत्तर (2014) : 187-205, 189

[31] जेम्स मैकह्यू (2012) : 4.

[32] सांसारिक वस्तुओं से अपने को अलग करने के प्रयास में बौद्ध भिक्षु स्वयं पर यह गंधहीन सत्ता स्थापित करते थे. ऐसे में ग़ौरतलब है कि सुगंधित चंदन को अक्सर बुद्ध का पर्याय समझा जाता था. देखिए, जेम्स मैकह्यू (2012) : 6.

[33] जेम्स मैकह्यू (2012) : 5.

[34] वही : 5.

[35] वही : 8.

[36] देखें, कॉन्स्टेंस क्लैसें, डेविड होव्ज़ वग़ैरह व कॉन्स्टेंस क्लैसें.

[37] जहाँ एक ओर प्लेटो ने दृष्टि को प्रथम स्थान दिया था, वहीं अरस्तू के मुताबिक़ स्पर्श मानव सभ्यता की सर्वोच्च इंद्रिय है. पश्चिमी दर्शन शास्त्र ने सेंसरी परसेप्शन के मामले में प्लेटो का साथ दिया. अरस्तू के विचार पिछले कुछ दशकों में फिर से प्रचलित हो रहे हैं. देखिए केल्विन ई.वाई. लो (2005) : 53, 397 -417, 399.

को ढालने में एक बड़ी घटना 1859 में डार्विन के क्रम-विकास सिद्धांत का प्रकाशन था। डार्विन का मानना था कि मनुष्य की उत्पत्ति चार पैर पर चलने वाले जानवरों से हुई है।

इसके चलते, मानव और जानवर में अंतर स्थापित करना एक बड़ा दार्शनिक मुद्दा बन गया। प्राकृतिक लोक पर मानव के प्रभुत्व को बचाने के लिए यह अंतर बेहद ज़रूरी था। मानवीय तर्क, विवेक, युक्ति और इच्छा पर क़ाबू उसे जानवरों से अलग करता है। फलत: मानवीय शरीर और इंद्रियाँ इस चर्चा का एक अहम हिस्सा बन गये। लेकिन आँख (दृष्टि), कान (श्रवण), जीभ (स्वाद), चर्म (स्पर्श) और नाक (गंध) यह दोनों में ही पाई जाती है। फ़र्क़ स्थापित किया गया इन इंद्रियों की क्षमता के बीच। डार्विनवादी विकास-क्रम के अनुसार जानवर से मनुष्य के सफ़र में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना मनुष्य का दो पैर पर खड़ा होना था। इस सीधी मुद्रा ने मनुष्य की दृष्टि-क्षमता को बहुत ज़्यादा बढ़ा दिया। मनुष्य की आँख अब क्षितिज के पार एक लम्बी दूरी पर देख सकती थी। लेकिन ज़मीन से दूर हो कर उठ खड़े होने की वजह से उसकी सूँघने और स्पर्श करने की क्षमता जानवर की तुलना में कम हो गयी।[39]

इस विचारधारा के तहत पश्चिमी युरोप में इंद्रियों का पदानुक्रम तैयार हो गया। इसमें दृष्टि को ज्ञान, तर्क और विवेक से जोड़ कर देखा जाने लगा, क्योंकि इसका वास्ता दूरी और निरपेक्षिता से था।[40] इसके बाद महत्त्व मिला श्रवण की क्षमता को क्योंकि यह भी हमें प्राकृतिक और सामाजिक दुनिया को एक दूरी से समझने और आकलित करने का मौक़ा देती है। बढ़ते विज्ञान और तकनीकी आविष्कारों जैसे टेलिस्कोप, माइक्रोस्कोप और नज़र सुधारने के यंत्रों ने दृष्टि के प्रभाव को और स्थापित कर दिया।[41] बिजली के आविष्कार और उन्नीसवीं सदी के मध्य उसके बढ़ते सामाजिक इस्तेमाल ने भी दृष्टि की क्षमता को बढ़ावा दिया।[42] बाक़ी सब इंद्रियाँ निचले स्तर पर धकेल दी गयीं। ग़ौरतलब है कि ऐतिहासिक रूप में इस समय विश्व में शुरुआती उपनिवेशवाद का दौर चल रहा था; और यूरोप, ख़ासकर ब्रिटेन में उदारतावादी आर्थिक व्यवस्था अपने चरम पर थी। इन दोनों ही व्यवस्थाओं में सभी समुदाय और सभ्यताएँ एक समान बुद्धिजीवी नहीं समझी गयीं। जहाँ एक ओर ग़ुलाम देश कम आँके गये, वहीं ब्रिटेन के भीतर ग़रीब, भूमिहीन और बेरोज़गारों के ख़िलाफ़ एक मुहिम छिड़ गयी, जिसके तहत इन समुदायों को कामगार श्रेणी में लाना था। इस ऐंद्रिक पदानुक्रम को यहाँ बख़ूबी इस्तेमाल किया गया।

जॉर्ज ऑरवेल ने अनुसार, 'वर्ग व्यवस्था को सबसे बड़ा ख़तरा चार शब्दों में समझाया जा सकता है—निचले वर्गों की गंध'।[43] समाज के हाशिये पर खड़े इन लोगों को गंध के क़रीब समझा जाता है। गंध के क़रीब होने के दो अर्थ हैं। पहला तो यह कि इन लोगों की सूँघने की क्षमता औरों से कुछ ज़्यादा आँकी जाती है। सूँघने की अधिकतम क्षमता उनके पशुवत, यानी मनुष्य से कुछ कम होने का

---

[38] एह्लां कोरबह (1986) : 5.

[39] वही: 6,74, 209 व डेविड होव्ज़ (2003) : 31.

[40] वही.

[41] आम ज़िंदगी से एक उदाहरण से दृष्टि की प्राथमिकता और प्रौद्योगिकीय विज्ञान से इसके संबंध को बेहतर समझा जा सकता है. अपने आसपास देखें तो नज़र के चश्मे एक आम से यंत्र हो गये हैं। एक तरह से सोचें तो चश्मे शरीर का एक अंग ही बन गये हैं. इस दृष्टि-प्रधान समाज में नज़र की कमी या नज़र का विलीन होना सबसे बड़ा ऐंद्रिक संकट है. हियरिंग-ऐड को छोड़ कर और किसी भी इंद्री के लिए तकनीकी मदद उपलब्ध नहीं है. ख़ासकर गंध की बात करें तो, शायद ही कभी हमारे सुनने में आता हो कि किसी की सूँघने की शक्ति चली गयी है. कभी-कभी ज़ुकाम के दौरान ऐसा ज़रूर होता है, पर इसे किसी प्रकार की अक्षमता नहीं समझा जाता है. असल में 'अनोसमिया', यानी सूँघने की शक्ति का कम या विलीन होना एक प्रमाणित मेडिकल स्थिति है जिससे कई लोग ग्रस्त हैं. कई लोगों का मानना है कि सूँघने की क्षमता को वे तब तक नहीं पहचानते जब तक वे उसे खो नहीं देते. दृष्टि और श्रवण प्रधान इस समाज में हमें अक्सर अन्य संवेदी बोधों की ज़रूरत ही महसूस नहीं होती है. जैविक शास्त्र में भी इस क्षमता को स्वाद की क्षमता से जोड़ कर देखा गया है. इसके विलीन होने को भी स्वाद में कमी आने से संबंधित माना गया है.

[42] क्रिस्टोफ़र औटर (2004) : 43, 1, 40-64, 42-43.

[43] जॉर्ज ऑरवेल (2001 / 1931).

प्रमाण थी। दूसरा अर्थ यह कि यह लोग अपने आप में अत्यधिक गंधित हैं, या फिर दुर्गंधित हैं।[44] समाज की इस परिकल्पना में गंधित होना ही दुर्गंधित होने के समान था क्योंकि ऐसा माना जाता था कि बाक़ी का समाज, ख़ास कर ऊपरी वर्ग गंधरहित हैं। इस परिकल्पना का एक बड़ा कारण था समाज में प्रचलित सफ़ाई और स्वच्छता के मानक।[45]

1850–80 के बीच लुई पैस्टर द्वारा कीटाणुओं की ख़ोज के बाद सफ़ाई पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। साथ ही समाज में यह डर भी फैल गया कि ये कीटाणु दिखते नहीं हैं और इसीलिए इनसे लड़ाई और भी कठिन हो गयी।[46] जो दिखता था वह था यूरोप के बड़े शहरों, जैसे लंदन और पेरिस में सड़कों और खुली जगहों पर रह रहे लाखों ग़रीब लोग। ग़रीबी का जुड़ाव जल्दी ही गंदगी और दुर्गंध से कर दिया गया।[47] वहीं दूसरी तरफ़ ऊपरी और सम्पन्न वर्गों ने अपने घरों और अपने शरीर को बड़े ही ध्यान से साफ़ करना शुरू कर दिया। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि इन जगहों पर दुर्गंध का कोई स्थान नहीं था, पर यहाँ गंधों पर एक कड़ा नियंत्रण ज़रूर स्थापित किया गया।[48] ग़ुसलख़ाने, जहाँ दुर्गंध की सबसे बड़ी सम्भावना थी, घरों से अलग करके दरवाज़ों से लैस किया गया। साथ ही इन ग़ुसलख़ानों में पानी की व्यवस्था की गयी।

कोरबह के मुताबिक़ सफ़ाई और गंध का संबंध युरोप में अट्ठारहवीं सदी में प्रचलित 'मायज़मा थियरी' से था। इसके तहत माना जाता था कि हमारे आसपास की हर जैविक वस्तु, जैसे मिट्टी, कूड़ा, मानव शरीर और उनके उत्पन्न पदार्थ, जानवरों के शरीर, सभी हवा में प्रदूषित पदार्थ छोड़ते हैं जिनके कणों से लैस हवा हमेशा हमारे आसपास रहती है। हमारी सरंध्र त्वचा से ये कण हमारे भीतर पहुँच कर बीमारी, आलस्य और अन्य कई व्यावहारिक दिक़्क़तें पैदा करते हैं। जहाँ पहले किसी भी भीड़-भाड़ वाली जगह में मायज़मा का ख़तरा समझा जाता था, उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक ग़रीबी, बेरोज़गारी और आपराधिक प्रवृत्ति को गंदगी से जोड़ कर देखा जाने लगा। यह सब सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का नतीजा न समझ कर गंदगी में रहने का परिणाम माना गया। इन स्थानों और व्यक्तियों से आने वाली दुर्गंध उनकी आपराधिकता और आलस्य की निशानी बन गयी। 1880 तक पैस्टर की कीटाणु थियरी ने मायज़मा की जगह ले ली, और इसके साथ ही शरीरों और स्पेस का वर्गीकरण बड़े पैमाने पर होने लगा।

भोजन से भी तेज़ ख़ुशबू और तीख़े स्वाद वाली वस्तुएँ हटा दी गयीं। साथ ही पेरिस जैसे शहरों के सम्पन्न वर्ग में परफ़्यूम का भाव बढ़ने लगा।[49] शरीर की गंध छुपाने के लिए यह एक बेहतर उपाय था। कई सामाजिक और राजनीतिक अधिनियमों से आधुनिक शहरों को एक ख़ास ऐंद्रिक संरचना दी गयी। जाति के इस संगठन में शहरों के संगठन का बड़ा प्रभाव रहा और अंग्रेज़ी शासन में शहरों की परिकल्पना भी ऐंद्रिक ढाँचे पर हुई। लेख के इस भाग में जाति और शहर को इसी ऐंद्रिक ढाँचे से समझने का प्रयास किया जाएगा।[50] एह्लां कोरबह के अनुसार, 'दुर्गंध के प्रति अवहेलना एक ख़ास क़िस्म का सामाजिक प्रभाव उत्पन्न करती है। जैसे कि दुर्गंध सामाजिक व्यवस्था की नींव ही हिला देगी। वहीं दूसरी ओर एक साफ़-सुथरा

---

[44] कॉन्स्टेंस क्लेसेन (1998) : 80.

[45] एह्लां कोरबह (1986) : 64–65.

[46] वही : 163, 225.

[47] वही : 149, 157–158.

[48] वही : 109, 170.

[49] वही : 158, 184–185.

[50] शहर की परिकल्पना को समझने के कई तरीक़ों में से एक है शहर को उसकी गंध के ज़रिये समझना. ऐसा सोचिए जैसे शहर में बसी हर गंध, सुगंध और दुर्गंध का एक नक़्शा सा आपके सामने रख दिया जाए, जिसमें हर गली, हर सड़क, हर इमारत को उसकी ख़ास गंध से पहचाना जाए. 'स्मेलस्केप' या गंध-वातायन का यह नज़रिया कई पश्चिमी देशों में पर्यटन के लिए इस्तेमाल किया जाता है. इसका उपयोग विज्ञापन और सेल्स के लिए भी किया जाता है.

और सुगंधित पर्यावरण इसी व्यवस्था को बल प्रदान करेगा।'[51] उपनिवेशिवाद के ज़रिये ये विचार भारत आये और यहाँ शहरों और प्रौद्योगिकी की ऐंद्रिक संरचना पर इनका ख़ासा प्रभाव पड़ा।

शहरों की आधुनिक परिकल्पना में गंध का कोई स्थान नहीं था। गंधित लोग, समुदाय और व्यापार सभी को 'न्यूसेंस' या परेशानी पैदा करने वाला समझा जाने लगा।[52] इनमें ख़ास थे मांस के व्यापारी, कसाई और चमड़े का व्यापार करने वाले। ऐसा नहीं है कि चमड़े के प्रति घृणा का भाव सिर्फ़ भारत में ही पाया गया। जोसफ हैंकिंस और टिमोथी एमोस ने जापान के चर्मकारों, जिन्हें बुराकुमिन के नाम से भी जाना जाता है, पर किये शोध के ज़रिये हमें बताया है कि वहाँ पर भी इन्हें एक ख़ास भेदभाव से जूझना पड़ता है।[53] चमड़े के व्यापार को अक्सर कसाईख़ानों से भी जोड़कर देखा जाता है, जिसकी वजह से इसे न सिर्फ़ गंदा बल्कि अनैतिक व्यापार भी समझा जाने लगा।[54] भारत में जाति व्यवस्था के चलते इस अवहेलना को एक ख़ास रूप मिला है। जाति की संरचना में श्रम विभाजन और नियोजन का एक बड़ा हाथ रहा है। किसी भी प्रकार का काम, जिसका ताल्लुक़ मानव या पशु शरीर, या इन शरीरों से निकले पदार्थों, या फिर कठिन श्रम से रहा है, अस्पृश्य घोषित कर दिया गया और इनका ज़िम्मा तथाकथित अस्पर्श्य जातियों को दे दिया गया। इन कार्यों की वजह से करने वाले भी दूषित समझे जाने लगे। चमड़े के अस्पृश्यता मूलभूत उसके पशु आधार से आती है और अगर विस्तार से कहें तो उसके मृत पशु आधार से। जाति व्यवस्था में मृत शायद सबसे ज़्यादा दूषित करने की ताक़त रखती है। जहाँ एक ओर जीवित पशु को धन समान समझा जाता है वहीं मृत पशु को ठिकाने लगाना इस जाति समाज के लिए बड़ी कठिनाई का विषय है। उत्तर प्रदेश में यह काम ज़्यादातर चमार जाति के हिस्से आया।[55] अंग्रेज़ी शासकों ने जाति-व्यवस्था को एक संगठित रूप प्रदान किया। इसके चलते जातिसंगत कार्यों को बढ़ावा मिला और चमड़ा व्यापार इसका ख़ास उदाहरण है। रामनारायण रावत लिखते हैं कि पहले विश्व-युद्ध के दौरान जब अंग्रेज़ी शासन को चमड़े की ख़ास ज़रूरत पड़ी तो उन्होंने भारत में चमड़े और जूतों के बड़े कारख़ाने लगाने का फ़ैसला किया। कारख़ाने लगाने के लिए वे स्थान चुने गये जहाँ चमारों और पशुओं की संख्या अधिक थी, जैसे कानपुर।[56]

कलिंघम के मुताबिक़ भारतीय समाज में एक ओर तो गो मांस और सुअर का मांस खाने की वजह से अंग्रेज़ी शासकों को अछूत समझा जाता था, वहीं दूसरी ओर रहन-सहन के तरीक़ों से अंग्रेज़ी शासकों को भी भारतवासियों से घृणा भी होती थी।[57] वे अपनी श्रेष्ठता क़ायम रखने के लिए इन आदतों को नीचा और असभ्य घोषित कर देते थे। परंतु अंग्रेज़ों ने जाति-व्यवस्था और उससे जुड़ी श्रम व्यवस्था का चमड़ा उद्योग जैसे क्षेत्रों में बख़ूबी इस्तेमाल भी किया। इसमें उनका साथ दिया भारत में प्रचलित ब्राह्मणवादी सोच ने जिसके चलते चमड़े का 'गंदा' काम तथाकथित निचली जातियों के 'गंदे' लोग ही कर सकते थे। युरोप में स्थापित निचले वर्गों और गंदगी के रिश्ते ने अंग्रेज़ी शासन के लिए जाति-व्यवस्था को समझना और उसका फ़ायदा उठाना आसान कर दिया। लेख के अगले हिस्से में हम इसी चमड़ा व्यापार के मौजूदा हालात पर ग़ौर करेंगे।

---

[51] एह्लां कोरबह (1986) : 158, 184-185.

[52] अवधेन्द्र शरण (2014) : 13, 191 -192.

[53] देखें, जोसफ हैन्किंस (2014) और टिमोथी एमोस (2011).

[54] कसाईख़ाने में काम करने वालों के प्रति सामाजिक रुख के लिए देखिए ज़रीन अहमद (2013) : 121-131, 122.

[55] साठ के दशक में सामुदायिक उत्थान कार्यक्रमों के चलते कई चमार समूहों ने यह काम न करने का फ़ैसला लिया जिसके चलते छिलाई और मृत पशु उठाने का भार चमारों से निचली जातियों, जैसे खटीक और भंगी/वाल्मीकि पर आ गया. देखिए, बद्री नारायण (2011) : 42-43.

[56] रामनारायण रावत (2011) : 87 -89.

[57] कलिंघम (2001) : 55-57.



जोहड़ (शहर फ़तेहपुर)

'मुस्लिम बस्तियों में अधिकतर सीख-कबाबों की तीखी महक फूटती। गोश्त की देगें, ख़मीरी आटे की तंदूरी रोटियाँ, हलीम, बिरयानी। ... हिंदू-बस्तियों में सुबह जलेबी-कचौड़ी बनाई जाती। शाम को बालूशाही और इमरती। पर हमारी बस्तियाँ नंगी और सपाट होतीं, गंधहीन, पर अजीब सी दुर्गंध परिवेश में फैली होती। घर-घर में चमड़ा भरा होता, आँगन में चमड़े के गीले टुकड़े सूखने के लिए पड़े होते। ऐसी बस्तियों के आसपास हवा चलती तो महसूस होता कि यहीं कहीं चमारवाड़ा है।'

IV

गंध, जाति और चमड़ा

गंध के बारे में इस तरीक़े से सोचते हुए एक बार फिर समाजवादी सुगंध की कुछ परतें खोलने का प्रयास किया जा सकता है। समाजवादी सुगंध चिह्नित करने के लिए जिन शहरों का चुनाव किया गया है उनमें से कुछ का गंध से एक ख़ास रिश्ता है। जहाँ एक ओर हम इन शहरों की प्रतिनिधि सुंगध की चर्चा कर रहे हैं, वहीं पिछले भाग की चर्चा से हम यह कह सकते हैं कि एक शहर का गंध-वातायन उसके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। शहर की ऐसी ऐंद्रिक परिकल्पना या सेंसरी इमेजिनेशन हमें शहर को न सिर्फ़ क़रीब से बल्कि गहराई से देखने, चखने, सूँघने और समझने में मदद करती है। ऐसे में उत्तर प्रदेश के इन शहरों का आख्यान उनकी दुर्गंध के बिना अधूरा सा है। शहरों की दुर्गंध ही काफ़ी हद तक उनकी राजनीति का खुलासा करती है। समाजवादी पार्टी की पहल से एक बड़ी वैचारिक दूरी पर खड़ी है मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा *अपने-अपने पिंजरे*। उत्तर प्रदेश के ही मेरठ शहर का ब्यौरा देते हुए नैमिशराय लिखते हैं :

> शहर में अनगिनत बस्तियाँ थीं, जिनसे सुबह-शाम गंध फूटती थी। उस गंध की अलग-अलग पहचान होती। मुस्लिम बस्तियों में अधिकतर सीख-कबाबों की तीखी महक फूटती। गोश्त की देगें, ख़मीरी आटे की तंदूरी रोटियाँ, हलीम, बिरयानी। भैंस का गोश्त कटोरों में भर-भर कर पर्दानशीन घरों में पहुँचता। हिंदू-बस्तियों में सुबह जलेबी-कचौड़ी बनाई जाती। शाम को बालूशाही और इमरती। पर हमारी बस्तियाँ नंगी और सपाट होतीं, गंधहीन, पर अजीब सी दुर्गंध परिवेश में फैली होती। घर-घर में चमड़ा भरा होता, आँगन में चमड़े के गीले टुकड़े सूखने के लिए पड़े होते।

ऐसी बस्तियों के आसपास हवा चलती तो महसूस होता कि यहीं कहीं चमारवाड़ा है।[58]

नैमिशराय का यह ब्योरा गंध ही नहीं बल्कि जाति और समुदाय के ऐंद्रिक जाल को बख़ूबी पेश करता है। इन संदर्भों में जाति शायद दिखे न दिखे, लेकिन सूँघी हमेशा जा सकती है। समाजवादी सुगंध दरअसल इस बहुआयामी संदर्भ को सपाट कर देती है। वह एक ऐसी सुगंध की बात करती है जिसका संबंध शहर की एक ऐसी परिकल्पना से है जो साफ़ है, व्यवस्थित है, जिसमें गंध की जगह सुगंध ने ले ली है। शहर दरअसल इस सुव्यवस्थित नज़रिये से कहीं दूर हैं। दुर्गंध का तमगा किस गंध को दिया गया है, वह कहाँ से आ रही है, उसके स्रोत इंसान है या वस्तुएँ, गंध के इन स्रोतों के साथ शहर किस तरह से रहता है और सामाजिक व्यवस्था के मानकों, जैसे कि जाति से इन गंधों का क्या रिश्ता है— इस भाग में हम कुछ ऐसे ही सवालों से जूझेंगे।

बनारस के घाट गंगा और गेंदे के फूलों की सुगंध में तो ज़रूर लिपटे होते हैं, पर साथ ही में इन घाटों पर मृत्यु की गंध का भी अटूट वास होता है। और इस मृत्यु की गंध से जाति की गंध को अलग करना नामुमकिन सा है। घाटों पर अंतिम संस्कार के रूप में किये जाने वाले रिवाजों में कई जातियाँ हिस्सा लेती हैं। लेकिन रिवाजों के ख़त्म हो जाने के बाद सफ़ाई का जिम्मा प्राय: तथाकथित निचली जातियों, जैसे डोम, का ही है।

अपनी आत्मकथा *मणिकर्णिका* में तुलसीराम बनारस के घाटों पर जाति की इस पकड़ को एक पौराणिक जामा पहना कर समझाते हैं। घाट की सीढ़ियों को याद करते हुए तुलसीराम लिखते हैं—

> आज भी याद आता है कि इन्हीं सीढ़ियों पर नवीं शताब्दी के आदि शंकराचार्य का एक चांडाल (दलित) के साथ शास्त्रार्थ हुआ था, किंतु पण्डितों ने इसे अमान्य करते हुए यह कहानी जोड़ दी कि चाण्डाल को इतनी बुद्धि कहाँ से आ सकती थी जो शंकराचार्य से वार्तालाप करे। अत: उन्होंने अफ़वाह फैला दी कि चांडाल के वेश में साक्षात् शिवजी थे, जो शंकराचार्य की परीक्षा लेने के लिए मणिकर्णिका घाट की सीढ़ियों पर बैठे थे।[59]

जहाँ एक ओर बनारस के घाटों को मृत्यु और डोम से अलग करके देखना सम्भव नहीं है, वहीं आगरा की सुगंध में ताजमहल के साथ जूतों की गंध भी मिली हुई है। आगरा में पर्यटन और जूता व्यापार आय के दो बड़े स्रोत हैं। 1996 के सर्वोच्च नायालय के निर्णय के बाद ताजमहल को प्रदूषण से बचाने के लिए उठाए गये क़दमों के चलते शहर में चल रहा लोहे और रसायन का छोटा सा उद्योग लगभग ख़त्म हो गया। इसी के साथ ही 2000 तक ख़त्म हो गयी शहर में चल रही 10-12 छोटी और मध्यम टेनरीज़ जो आगरा के जूता व्यापार को चमड़ा उपलब्ध करवाती थीं। आज यहाँ पर जूते का व्यापार अभी भी काफ़ी बड़े स्तर पर चल रहा है जिसके लिए चमड़ा कानपुर और चेन्नई से आता है। जूता व्यापार भी काफ़ी दिक़्क़तों से गुज़र रहा है। सबसे बड़ी परेशानी कच्चा माल, यानी खाल और चमड़ा एकत्रित करना है। हाल ही में गोमांस पर छिड़े राजनीतिक विवाद का सीधा असर चमड़ा और जूता उद्योग पर पड़ा है। हालाँकि भारत में ज़्यादातर भैंस का चमड़ा बनता और इस्तेमाल होता है पर बिगड़ते सामाजिक और राजनीतिक माहौल में कई मांस व्यापारियों पर हमले हुए हैं और साथ ही में चमड़ा व्यापार के ख़िलाफ़ भी आवाज़ें तेज़ हो रही हैं।

आगरा शहर ने कई साल पहले ही चमड़े की टेनरी की गंध को भुला दिया है। 2013 में एक बड़े जूता कारख़ाने के मालिक से जब मैंने पूछा कि शहर की विलुप्त टेनरीज़ के बारे में कुछ बताएँ, तो उनका सीधा सा जवाब था कि आगरा में कभी टेनरीज़ रही ही नहीं। यह एकमात्र भूलने का या ग़लती का सवाल नहीं है। आगरा के जूता व्यापार में अगर मालिकों से बात करें, जो ज़्यादातर ऊपरी

---

[58] मोहनदास नैमिशराय (2009 / 1995) : 11-12.

[59] तुलसीराम (2014) : 12.

जातियों से है, तो यही सुनाने में आता है कि जूता और चमड़ा दो अलग उद्योग हैं, और इन्हें जोड़ कर न देखा जाए। इनमें से कई का तो दावा भी है कि उन्हें कभी चमड़ा टेनरी में जाने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी। यह है ख़ुद को जाति की दुर्गंध से अलग करने का तरीक़ा। आगरा आज अपने को कानपुर से ज़्यादा साफ़, कम दुर्गंधित और एक बेहतर उद्योग का केंद्र मानता है, वहीं अगर इन्हीं कारख़ानों के जाटव और मुसलमान मज़दूरों का मत लें, तो जिन्होंने यहाँ पर टेनरीज़ चलती देखी थीं या फिर उनमें काम भी किया था, उनके मुताबिक़ आज जो कानपुर में घटित हो रहा है आगरा का चमड़ा उद्योग उसी मंदी से गुज़र कर हार मान चुका है।

कानपुर

अपने शोध कार्य के लिए जब मैंने उत्तर प्रदेश में हो रहे चमड़े के काम पर लोगों से बातचीत करनी शुरू की, तो कई लोगों ने कुछ नाक–भौंह सिकोड़ते हुए अपनी असहमति प्रकट की। इसमें से ज़्यादातर चमड़े के व्यापार में काम करने वाले मध्यमवर्गीय और उच्च्व जाति के लोग थे। 'यह कैसा विषय चुन लिया आपने?' लोग अक्सर कहते थे, 'यह तो बहुत गंदा काम है, बहुत बदबू आती है।' गंदगी और बदबू का यह संबध, जिसका ज़िक्र हमनें पिछले भाग में भी किया था, चमड़ा व्यापार को समझने का एक ऐसा तरीक़ा है जिसमें जाति के सवाल अपने आप बँध कर चले आते हैं। इसीलिए चमड़े की गंध एक राजनीतिक सवाल है। इस बहुआयामी गंध को केवल बदबू कहना ठीक नहीं होगा। जनवरी, 2015 से कानपुर के जाजमऊ क्षेत्र में चमड़ा टेनरियों पर पर्यावरण प्रदूषण मामले में केंद्र सरकार और नेशनल ग्रीन ट्रिब्युनल ने लगातार कड़ा रुख़ अपनाया हुआ है। इसके चलते क्षेत्र की चार सौ में से लगभग 98 टेनरीज़ बंद पड़ी हैं और बाक़ी भी आधे–अधूरे तरीक़े से काम कर रही हैं।[60]

एक ओर चमड़ा टेनरी का नाम अपने साथ बदबू और घृणा लेकर आता है जिसका परिणाम कई बार एक दैहिक अवहेलना में निकल सकता है, वहीं दूसरी ओर 'लेदर बैग' या 'जेन्युइन लेदर शूज़' सुनते ही विलास और कामना की संकल्पना सामने आती है। चमड़ा इसी घृणा और इच्छा के दायरे के बीच स्थित है। और इस दायरे की सीमाएँ जाति के नियमों से आकलित हैं। भारत में चमड़ा एक ख़ास क़िस्म की वस्तु है जिसका सम्पूर्ण अस्तित्व जाति के आधार पर है। औद्योगिक क्षेत्र में शायद ही कोई और ऐसी वस्तु है जिसकी संरचना में ही जाति का इतना आवास हो।[61]

चमड़ा और चर्मकार, वस्तु और कारीगर, एक दूसरे की अस्पृश्यता के मानक हैं। वे एक दूसरे के प्रदूषित अस्तित्व को जन्म देते हैं, और उसे आधार भी देते हैं। आर्थिक और सामाजिक नवउदारतावाद के दौर में शायद चमड़े का दूषित अस्तित्व कुछ धुँधला सा पड़ गया है। चमड़े की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले बड़े ब्रांड्स जैसे कि हाई डिजाइन, गूची और प्रादा के चकाचौंध विज्ञापनों में जाति कहीं नज़र नहीं आती। यहाँ तक कि घरेलू समझे जाने वाले विदेशी ब्रांडों जैसे कि बाटा भी चमड़े को एक जातिविहीन शक्ल देने में सफल रहे हैं।

इन सबसे दूर जाति का असली रूप चमड़ा कारख़ानों, टेनरी और जूता कारख़ानों के अंदर नज़र आता है, या कहें तो सूँघने में आता है। चमड़ा बनाने में मरे हुए पशु की ख़ाल छीलना, उसे नमक लगा कर सुखाना, उसे ख़ाल मण्डियों तक ले जाना और फिर चमड़ा टेनरी के अंदर उसकी सफ़ाई, रँगाई और उसे चमड़ा बनाने तक की सारी क्रियाओं का जिम्मा तथाकथित अस्पृश्य जातियाँ ही उठाती हैं— फिर वह चाहे हिंदू हों या मुसलमान।

---

[60] फ़ैज़ रहमान सिद्दीकी व अनंत शेखर मिश्रा (2015).

[61] यह कहा जा सकता है. कि कुछ औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन का कुछ विशेष समुदायों से वास्ता है, जैसे कि जुलाहों का बुनाई से लेकिन बुनकर वस्तु अपने में इस समुदाय की छाप समेट कर नहीं रहती है. इस वस्तु को हम प्रदूषित नहीं कहते.

कानपुर से सटे उन्नाव ज़िले[62] में एक बड़ी चमड़ा टेनरी में 'वेट सेक्शन' के सुपरवाइज़र मोहनलाल शर्मा[63] ने मुझे टेनरी का एक 'टुअर' देने का प्रस्ताव रखा। अलग-अलग लोगों के साथ फ़ैक्ट्री और टेनरी के ऐसे कई 'टुअर' मैंने इस शोध के दौरान किये और इस व्यक्ति के ओहदे और जाति के साथ हर बार यह उद्योग एक नये रूप में सामने आया। शर्मा, जो जाति से ब्राह्मण हैं, इस टुअर पर टेनरी से ज़्यादा अपनी कहानी बताने के लिए तत्पर थे। मैं भी एक ब्राह्मण का चमड़ा टेनरी में अनुभव सुनना चाहती थी। बात करते-करते हम टेनरी के उस भाग में चल रहे थे जहाँ खाल मण्डी से आयी जानवरों की खालें अपनी 'वेट-ब्लू' तक का सफ़र तय करेंगी। इसे टेनरी का 'वेट-सेक्शन' कहा जाता है और यह टेनरी का सबसे दूषित और दुर्गंधित हिस्सा भी माना जाता है। हर टेनरी में वेट सेक्शन के श्रमिक प्राय: जाटव या खटीक ही होते हैं ।[64] शर्मा ने अपनी बात शुरू करते हुए मुझसे पूछा, 'क्या आपको यह बदबू परेशान कर रही है?'। मेरा जवाब सुनने से पहले ही उन्होंने अपनी जेब से रूमाल निकाला और बोले, 'मेरे रूमाल तक में यह बदबू घुस जाती है। मुझे तो अब आदत हो गयी है पर अभी भी जब मैं घर जाता हूँ तो कोई मेरे पास तब तक नहीं आता जब तक मैं नहा नहीं लेता।'[65]

यह विकल्प शर्मा के नीचे काम कर रहे कर्मचारियों के पास नहीं है। उनसे बात करते-करते ही सुबह की शिफ़्ट ख़त्म होने को आयी और वेट सेक्शन के श्रमिक काम बंद करके पास ही में बने स्नानघर की तरफ़ जा रहे थे। क्योंकि काम बंद था, शर्मा मुझे उनके साथ बात करने के लिए समय देकर किसी और कार्य में व्यस्त हो गये। एक लम्बे दिन के बाद, वर्कर्स को घर जाने की जल्दी थी। मेरे अनुरोध करने पर उनमें से तीन श्रमिक— राजू, कमल और मुन्ना पीछे रुक गये। टेनरी के अंदर कुछ साल पहले ही यह स्नान घर बनाया गया था। इन वर्कर्स का मानना था कि यह विदेशी क्लाइंट्स और उनके टेनरी के दौरों का असर है। इससे पहले श्रमिक कपड़े बदल कर घर जाते थे ताकि टेनरी की बदबू कुछ कम हो सके। राजू के मुताबिक़, हालाँकि उनकी बस्ती में सब एक ही जाति के लोग रहते हैं, फिर भी कई लोग यह नहीं बताते की वे टेनरी में काम करते हैं। 'कारख़ाने में काम करते हैं बोलने से चल जाता है,' राजू हँस कर बोला। पीछे से मुन्ना सर हिलाते हुए राजू की बात काटते हुए बोला, 'अरे, सबको पता होता है कौन कहाँ काम करता है। हम चाहे जितना भी नहा लें, जितने भी कपड़े बदल लें, लेकिन बस्ती में घुसते ही जब किसी के पीछे कुत्ते भागने लगते हैं तो सब समझ जाते हैं कि वह टेनरी से वापस आ रहा है।' मुन्ना शायद कुछ ज़्यादा बता गया। इसके बाद कोई और कुछ नहीं बोला और एक-एक करके तीनों स्नानघर की तरफ़ चले गये और मैं शर्मा को ढूँढ़ने।

कानपुर को अक्सर टेनरीज़ और उनमें काम करने वाले लोगों की इसी गंध से पहचाना जाता है। एक ओर शर्मा भी इस गंध से परेशान हैं, लड़ रहे हैं। लेकिन जाति व्यवस्था, समाज और अर्थव्यवस्था में उनका

---

[62] कानपुर की लगभग सभी बड़ी टेनरीज़, जो चमड़ा निर्यात का काम करती हैं, अब उन्नाव से काम करती हैं. इसके कई कारण हैं— जैसे कि कानपुर में जगह की कमी, वहाँ पर्यावरण पर गरम होती राजनीति और उन्नाव में बने 'लेदर-पार्क' का साफ़ और नियंत्रित परिप्रेक्ष्य. हालाँकि उन्नाव में भी कई बड़ी टेनरीज़ लेदर-पार्क के बाहर उन्नाव इंडस्ट्रियल एरिया में स्थित हैं. उन्नाव भी कानपुर की तरह प्रदूषण के मामलों से घिरा हुआ है. पर इस पर चर्चा इतनी ज़्यादा नहीं हुई है.

[63] सभी नाम बदल दिये गये हैं, लेकिन बदले नाम में भी उनकी जाति को मूलरूप में रखा गया है.

[64] जाजमऊ की एक छोटी टेनरी में फ़िनिशिंग का काम करने वाले इस्लाम भाई ने एक साक्षात्कार में बताया कि 'वेट-सेक्शन' में तो अक्सर मुसलमान भी काम करने से मना कर देते हैं (आम्बेडकर नगर, कानपुर, जनवरी, 2015). फ़िनिशिंग का काम चमड़ा पकने के बाद किया जाता है. और आमतौर पर इसमें ज़्यादा गंध और गंदगी नहीं होती है.

[65] चमड़ा उद्योग में आमतौर पर ऊँची जाति के लोग या तो मालिक होते हैं या फिर 'ड्राई-सेक्शन' (यानि चमड़ा पकने के बाद के कार्य जैसे कटाई, स्प्लिटिंग और फ़िनिशिंग) में सुपरवाइजर या श्रमिक के तौर पर काम करते हैं. शर्मा जैसे कुछ ही ऊँची जाति के सुपरवाइज़र 'वेट-सेक्शन' में मिलेंगे. इनमें से कई के पास लेदर इंजीनियरिंग की डिग्री या फिर लेदर टेक्नोलॅजी का डिप्लोमा है. शर्मा ने बताया कि दरअसल वे सिविल या मेकेनिकल इंजीनियरिंग करना चाहते थे, पर सीट न मिलने पर लेदर की ब्रांच चुन ली. चूँकि चमड़े का बड़ा निर्यात होता है इसलिए ऐसा भी सोचा जाता है कि यहाँ पैसा अच्छा मिलेगा.



स्थान उन्हें साफ़ होने का एक मौक़ा देता है। टेनरीज़ से मिल रही अच्छा वेतन भी काफ़ी हद तक चमड़े की गंध को व्यवस्थित करने में सहयोग करती है, वहीं मुन्ना के पास इनमें से कुछ नहीं है। उसकी जाति दरअसल चमड़े की गंध को और तीखा कर देती है, सिर्फ़ उसके लिए नहीं बल्कि समाज के लिए भी।

मृत्यु से जुड़ी दोनों ही जातियाँ— डोम और चमार जो मृत पशु को ठिकाने लगाने और उनसे चमड़ा बनाने का काम करते हैं, इस दूषित अवस्था से निरंतर गुज़रती रहती हैं। साथ ही दूषित अवस्था में रहती है गंगा, जिसमें बनारस के घाटों से आने वाली मृत्यु और कानपुर के चमड़ा उद्योग से निकला दुर्गंधित नीला पानी दोनों ही निरंतर बहते रहते हैं। क्या डोम और चमार के दूषित शरीर और उस दूषित गंगा में कोई फ़र्क़ है? यह फ़र्क़ स्थित है जाति के दायरे में, जहाँ गंगा की तरह डोम और चमार का शरीर साफ़ नहीं किया जा सकता। एक तरह से समझें तो गंगा का पानी दो प्रकार के प्रदूषण से ग्रस्त है— पहला, मृत्यु और चमड़े का भौतिक प्रदूषण जैसे की अस्थियाँ, राख, फूल, शव, टेनरी में इस्तेमाल किया जाने वाले रसायन, जैसे क्रोम-6, जानवर की खाल में चिपके मांस और चर्बी इत्यादि; और दूसरा मृत्यु और चमड़े का जातिगत प्रदूषण जो घाटों और टेनरीज़ में सूँघने को मिलता है और जो यहाँ के मज़दूरों के बदन से चिपक कर उनके साथ सारे सामाजिक क्षेत्र में फैल जाता है। इस दूसरे प्रकार के प्रदूषण से गंगा की सफ़ाई करना थोड़ा मुश्किल कार्य है क्योंकि मृत्यु और चमड़े की दुर्गंध को समझने और उससे निपटने के लिए पहले इन कार्यों के जातिसूचक अस्तित्व से निपटाना होगा।

बनारस की सुगंध भी तुलसीराम की कहानी जैसी ही है जो चांडाल को शिव बता कर अपना अस्तित्व बचा रही है। बनारस की सुगंध को तो शायद गंगा और गेंदे में ढँक कर बेचा जा सके— पर सोचने की बात है कि अगर कानपुर की सुगंध निकालने का फ़ैसला लिया जाए तो क्या होगा? शायद कानपुर शहर ही इस बात पर ज़ोर से हँस देगा। कानपुर में गंध का केवल एक पर्याय है और वह है चमड़े की गंध।

V

अंत में

चमड़ा उद्योग अस्पृश्यता पर या अस्पृश्य श्रम पर ही टिका हुआ है। शोरूम में रखे, उस चमचमाते हुए लेदर बैग को जब हम सूँघ कर उसकी प्रामाणिकता का सच खोजते हैं तो असल में हम अस्पृश्यता और जाति की गंध सूँघ रहे होते हैं। जहाँ एक ओर लेदर बैग की वह गंध हमें ख़ुशबू लगती है, वहीं टेनरी से आ रही गंध, और ख़ासकर टेनरी मज़दूरों के बदन से आ रही गंध हमें न सिर्फ़ बदबू लगती है बल्कि उससे घृणा होती है। एक जातिगत ऐंद्रिक सत्ता पर व्यवस्थित इन शहरों और मानसिकताओं में जाति की गंध की कोई जगह नहीं है। जाति की गंधों को बाहर धकेलने का भरसक प्रयास जारी है— कभी गोमांस के नाम पर, तो कभी टेनरीज़ के प्रदूषण का हवाला दे कर। उत्तर प्रदेश सरकार कई तरह के पार्क बनाने की कोशिश में है। जहाँ एक ओर अरोमा पार्क होगा वहीं दूसरी ओर लेदर पार्क। दोनों में से ही गंध छुप कर बाहर आएगी और एक तथाकथित गंधहीन शहर को कुछ अव्यवस्थित कर देगी। इस शहर को दरअसल इत्र और चमड़े दोनों की चाहत है। अब सवाल यह है कि इस शहर की गंध कैसी होगी?

संदर्भ

अवधेन्द्र शरण (2014), *इन द सिटी, आउट ऑफ़ प्लेस : नुइसेंस, पोल्यूशन ऐंड ड्वेलिंग इन डेल्ही, 1850-2000,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ओमप्रकाश वाल्मीकि (2009)(1997), *जूठन,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.

ई.एम. कलिंघम (2001), *इम्पीरियल बॉडीज़ : द फ़िज़िकल एक्सपीरियंस ऑफ़ द राज,* 1800 -1947, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

एस्त्रिड जौत्तर (2014), 'सेंट ऑफ़ अ फ्लावर : नोट्स ऑन ऑल्फ़ेक्शन इन हिंदू वरशिप', एक्सेल माइकल्स व क्रिस्टोफ़र वुल्फ़ (सं.), *एक्सप्लोरिंग द सेंसेज़,* रौटलेज, नयी दिल्ली.

कॉन्स्टेंस क्लैसें (1993), *वर्ल्ड्स ऑफ़ सेंस : एक्सप्लोरिंग द सेंसेज़ इन हिस्ट्री ऐंड अक्रॉस कल्चर्स,* रौटलेज, लंदन.

कॉन्स्टेंस क्लैसें, डेविड होव्ज़ और एंथनी सीनोट (1994), *अरोमा : द कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ स्मेल,* रौटलेज, लंदन व न्युयॉर्क.

कॉन्स्टेंस क्लैसें (1998), *द कलर ऑफ़ एंजेल्स : कोस्मोलॉजी, जेंडर ऐंड द एस्थेटिक इमैजिनेशन,* रौटलेज, लंदन.

क्रिस्टोफ़र ओटर (2004), 'क्लीनज़िंग ऐंड क्लैरिफ़ाइंग : टेक्नोलॉजी ऐंड परसेप्शन इन एटींथ सेंचुरी लंदन', *जर्नल ऑफ़ ब्रिटिश स्टडीज़,* खण्ड 43, अंक 4.

केल्विन ई.वाई. लो (2005), 'रुमिनेशंस ऑन स्मेल एज़ अ सोसियो-कल्चरल फ़िनोमेनन', *करंट सोसियोलॉजी.*

गोपाल गुरु व सुंदर सरुक्काई (2012), *द क्रैक्ड मिरर : एन इण्डियन डिबेट ऑन एक्सपीरियंस ऐंड थियरी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ज़रीन अहमद (2013), 'मार्जिनल ओक्युपेशंस ऐंड मॉडर्नाइज़िंग सिटीज़ : मुस्लिम बुचर्स इन अर्बन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 48, अंक 32.

जिम द्रोब्निक (2005), 'वोलेटाइल इफ़ेक्ट्स : ओल्फ़ैक्टरी डायमेंशंस ऑफ़ आर्ट ऐंड आर्किटेक्चर', डेविड हॉव्ज़ (सं.), *एम्पायर ऑफ़ द सेंसेस : द सेंसुअल कल्चर रीडर,* बर्ग.

जी.डबल्यू. ब्रिग्स (2004 / 1920), द *चमार्स,* लो प्राइस पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

जॉर्ज ऑरवेल (2001 / 1931), द *रोड टू विगन पियर,* पेंगुइन, लंदन.

जेम्स मैकह्यू (2012), *संदलवुड ऐंड करिऑन : स्मेल इन इण्डियन रिलीजन ऐंड कल्चर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.

जोस हैन्किंस (2014), *वर्किंग स्किन : मेकिंग लेदर, मेकिंग अ मल्टीकल्चरल जापान,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, ऑकलैंड.

टिमोथी डी. एमोस (2011), *एम्बोडिंग डिफ़रेंस : द मेकिंग ऑफ़ बुराकुमिन इन मॉडर्न जापान,* नवयान, नयी दिल्ली.

विलियम क्रुक (2012 / 1906), *नेटिव्ज़ ऑफ़ नॉर्थर्न इण्डिया,* नियोगी बुक्स, नयी दिल्ली.

डेविड हॉव्ज़ व एह्लां कोरबह (1986), *द फ़ाउल ऐंड द फ्रेग्रांत : ऑडर ऐंड द फ्रेंच सोशल इमेजिनेशन,* हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

डेविड हॉव्ज़ (2003), *सेंसुअल रिलेशंस : एंगेजिंग द सेंसेज़ इन कल्चर ऐंड सोशल थियरी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस, एन आर्बर.

फैज़ रहमान सिद्दीकी व अनंत शेखर मिश्रा (2015), 'एनजीटी डिसीज़न ऑन कानपुर टेनरीज़ हेल्ड', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 28 मई.

तुलसीराम (2014), *मणिकर्णिका,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

मार्क एम. स्मिथ (2006), *हाउ रेस इज़ मेड : स्लेवरी, सेग्रेगेशन ऐंड द सेंसेज़,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैरोलिना प्रेस, चैपल हिल.

मोहनदास नैमिशराय (2009 / 1995), *अपने अपने पिंजरे* : भाग 1, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

बद्री नारायण (2011), *द मेकिंग ऑफ़ द दलित पब्लिक इन नॉर्थ इण्डिया, उत्तर प्रदेश, 1950–प्रेज़ेंट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रामनारायण रावत (2011), *रिकंसीडरिंग अनटचेबिलिटी : चमार्स ऐंड दलित हिस्ट्री इन नॉर्थ इण्डिया,* इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.